

# नईदुनिया

Date:21-03-20

## अब भी सही सबक सीखने से इन्कार

डॉ. एके वर्मा , (लेखक सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ सोसायटी एंड पॉलिटिक्स के निदेशक हैं)



अंततः मध्य प्रदेश में कमल नाथ सरकार ने बहुमत परीक्षण से पहले ही मैदान छोड़ दिया। उनकी सरकार का पतन तभी सुनिश्चित हो गया था, जब ज्योतिरादित्य सिंधिया कांग्रेस छोड़कर भाजपा में शामिल हो गए थे। इस पर कम ही चर्चा हुई कि आखिर योग्य, युवा और प्रतिबद्ध कांग्रेसियों को पार्टी क्यों छोड़नी पड़ती है? यह मर्ज आज का नहीं, बहुत पुराना है। ओडिशा में बीजू पटनायक, उत्तर प्रदेश में चौधरी चरण सिंह, रीता बहुगुणा जोशी और जगदंबिका पाल, महाराष्ट्र में शरद पवार, बंगाल में ममता बनर्जी, आंध्र में जगन मोहन रेड्डी, तमिलनाडु में जयंती

नटराजन, तेलंगाना में के. चंद्रशेखर राव, असम में हिमंत बिस्व सरमा आदि नेताओं की लंबी सूची है, जो कांग्रेस छोड़ गए। प्रश्न यह है कि यदि कोई राष्ट्रीय पार्टी अनेक राज्यों में अपने नेताओं को खोती जाए, तो उसका जनाधार बचेगा कैसे? उस पार्टी का अस्तित्व कितने दिन बना रहेगा? क्या इसी का परिणाम नहीं कि कांग्रेस पार्टी धीरे-धीरे कुछ राज्यों में सिमटती जा रही है? क्या वह स्वयं को 'कांग्रेस-मुक्त भारत की ओर नहीं धकेल रही? क्या जिन लोगों ने अपने खून-पसीने से कांग्रेस को खड़ा-बड़ा किया, वे एक व्यक्ति और परिवार के लिए उसे दांव पर लगा देंगे?

काफी दोष कांग्रेस के बड़े नेताओं का है। ऐसी कौन-सी मजबूरी है, जो किसी भी कांग्रेसी को पार्टी की दुर्दशा पर अपनी आवाज उठाने नहीं देती? पार्टी छोड़ना तो आसान विकल्प है, लेकिन पार्टी के अंदर रहकर पार्टी की कमजोरियों और बुराइयों से लड़ना और उसे सही मार्ग पर ले जाना बहुत कठिन है। कांग्रेस के नेता यह क्यों नहीं सोचते कि सोनिया और राहुल गांधी यदि पार्टी को आगे नहीं ले जा पा रहे तो राष्ट्रीय नेतृत्व को कैसे पुनर्परिभाषित किया जाए? वे राज्य स्तर पर भी नेतृत्व को तरजीह नहीं दे पा रहे हैं। क्यों राज्यों के मुख्यमंत्री, अन्य मंत्री या संगठन के पदाधिकारी शीर्ष नेतृत्व की कृपा पर आश्रित होते हैं? स्वतंत्रता के सात दशक बाद भी क्यों कांग्रेस में आज तक आंतरिक लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो पाई है? क्या यही पार्टी की लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्धता है? आज वे लोग संगठन के प्रत्येक स्तर पर हावी होते जा रहे हैं, जो पार्टी के 'कुबेर या 'दबंग हैं। आम कांग्रेसी तो बिल्कुल हाशिये पर चला गया है। कोई भी राष्ट्रीय पार्टी बिना संगठन और विचारधारा के कैसे अपनी अस्मिता बचा सकती है?

यह संकट केवल कांग्रेस में ही नहीं है। यह भाजपा में भी उतना ही व्याप्त है। आज सिंधिया को लेकर इतना उत्साह क्यों है भाजपा में? क्योंकि मध्य प्रदेश में शिवराज सिंह चौहान के अलावा कोई कद्दावर नेता दिखाई नहीं देता। ज्योतिरादित्य के आने से पार्टी को युवा नेता मिल रहा है। भाजपा की यही हालत अन्य राज्यों में है। नरेंद्र मोदी सरकार के 2014 में सत्ता में आने पर भाजपा में भी नेतृत्व संबंधी गुणात्मक बदलाव दिखाई देता है। राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक नेतृत्व समाप्त सा हो गया है और मोदी-शाह हर जगह पार्टी के तारणहार की भूमिका में दिखाई देते हैं। इससे भाजपा के अधिकतर मंत्री, सांसद, विधायक आदि हाशिये पर चले गए हैं। वे निश्चित हैं कि कुछ करें या नहीं, मोदी-शाह तो हैं ही बेड़ा पार करने को। इसी का परिणाम है कि राजस्थान, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश और दिल्ली के चुनावों में भाजपा को पराजय मिली।

मोदी सरकार ने पिछले पांच-छह वर्षों में बहुत कुछ किया है, लेकिन भाजपा के अधिकतर सांसद या विधायक उनकी योजनाओं की 'मार्केटिंग करते दिखाई नहीं देते। अभी हाल में सरकार ने राष्ट्रीय मार्गों पर टोल पर 'फास्ट-टैग की व्यवस्था की, जो अत्यंत सुविधाजनक है, जिससे समय, ईंधन और धन की बचत हो रही है तथा आवागमन भी सुविधाजनक हो गया है। ऐसी ही अनेक योजनाएं हैं, जो धरातल पर आकार ले रहीं हैं और जिनसे जनता लाभान्वित हो रही है, लेकिन राज्य स्तर पर भाजपा नेताओं को उनके संबंध में कोई जनजागृति या विमर्श विकसित करते देखा नहीं जाता। अधिकतर मंत्री, नेता और अफसर आपसी गठजोड़ से भ्रष्टाचार में लिप्त हैं और उसका खामियाजा मोदी के खाते में जा रहा है।

कांग्रेस और भाजपा दोनों पार्टियां नेतृत्व संकट से गुजर रही हैं। वे नहीं समझ पा रहीं कि दूरगामी राजनीति के लिए प्रत्येक स्तर पर योग्य, जनप्रिय और स्थापित नेतृत्व होना चाहिए, पर नेतृत्व निर्माण के लिए लोकतांत्रिक और संस्थागत स्वरूप तो विकसित करना ही होगा, जिसमें प्रत्येक सदस्य को अपनी योग्यता के अनुसार आगे बढ़ने का अवसर हो। नेतृत्व कोई ऐसी शख्सियत नहीं जो रातोंरात बन जाए। उसके लिए पार्टियों के पास योग्य, जनप्रिय नेताओं की लंबी 'सप्लाई-लाइन होनी चाहिए। क्या कांग्रेस और भाजपा इसके लिए कोशिश कर रही हैं? राष्ट्रीय, प्रांतीय, शहरी और ग्रामीण स्तर पर क्या कोई भी पार्टी संगठन और युवा नेतृत्व को लेकर गंभीर है?

जिन दलों के पास युवा, महिला, छात्र आदि के अनुषांगिक संगठन हैं, वे भी उनको संगठनात्मक, विचारधारामूलक, नीतिगत और शासन एवं प्रशासन संबंधी कोई प्रशिक्षण नहीं देते, जिससे उनके द्वारा दिशाविहीन विमर्श में समय नष्ट होता है जो प्रायः आरोप-प्रत्यारोप में बदल जाता है। कोई भी दल अपने सदस्यों को असहमति, आलोचना और आरोप का फर्क नहीं समझाता, जिससे प्रत्येक मंच पर वाद-विवाद का स्वरूप विकृत हो चला है। इस क्रम में वामपंथी दल फिर भी सबसे आगे हैं, जिनके पास संगठनात्मक कौशल, वैचारिक दृष्टि और बौद्धिक क्षमता अन्य दलों के मुकाबले बेहतर है। इसीलिए किसी भी वाद-विवाद में वे अपना पक्ष मजबूती से रखते हैं, भले ही विचारधारा के स्तर पर उनकी जन-स्वीकार्यता न हो। भाजपा के पास राष्ट्रीय स्तर पर गिने-चुने प्रवक्ता हैं, जो तथ्य और तर्क का सहारा लेकर अपना पक्ष रखते हैं, लेकिन नीचे के स्तर पर ज्यादातर नेता भाषा का संयम खो देते हैं तथा पार्टी के लिए संकट पैदा कर देते हैं। भाजपा के लिए यह जरूरी है कि अपने नेताओं को सम्यक प्रशिक्षण दिलाए या दक्षिणपंथी रुझान वाले बुद्धिजीवियों को पार्टी प्रवक्ता बनाए। कांग्रेस को भी यही फॉर्मूला अपनाना चाहिए।

सिंधिया का प्रकरण सभी राजनीतिक दलों को सोचने का अवसर देता है। दलों में गुटबाजी कोई नई बात नहीं। सभी दलों में अनेक गुट होते हैं, जो सामाजिक विभिन्नता को प्रतिबिंबित करते हैं, लेकिन उसके बावजूद दल को कैसे एकजुट रखा

जाए और विचारधारा तथा नेतृत्व के प्रति कैसे सबकी निष्ठा बनाए रखी जाए, मंथन इस पर होना चाहिए। विमर्श सिंधिया पर नहीं, वरन दलीय-व्यवस्था और दलों में आंतरिक लोकतंत्र की स्थापना पर होना चाहिए।

Live  
**हिन्दुस्तान**  
.com

Date:20-03-20

## अब हमारी सुबह-शाम में नहीं चहचहाती कोई गौरैया

जानेंद्र रावत



बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी से संबद्ध विख्यात पक्षी वैज्ञानिक रंजीत डैनियल, असद रफी रहमानी और एस एच याहया की मानें, तो हमारी बदलती जीवन शैली ने गौरैया को हमसे दूर करने में अहम भूमिका निभाई है। ग्रामीण अंचलों में आज भी 30 फीसदी ही उसके दर्शन हो पाते हैं, लेकिन महानगरों में उसके दर्शन दुर्लभ होते जा रहे हैं। बहुमंजिली इमारतों का इसमें अहम योगदान है, क्योंकि गौरैया 20 मीटर से अधिक ऊंची उड़ान नहीं भर पाती। खुद को बदलती परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने वाली गौरैया की तादाद आज भारत ही नहीं, ब्रिटेन, इटली, फ्रांस, जर्मनी जैसे देशों में भी तेजी से

घट रही है। नीदरलैंड में तो इसे दुर्लभ प्रजाति की श्रेणी में रखा गया है। गौरैया की घटती तादाद के पीछे खेतों में कीटनाशकों का छिड़काव भी प्रमुख कारण है। कीटनाशकों के चलते खेतों में छोटे-पतले कीट, जिनको आम भाषा में सुंडी कहते हैं और जिन्हें गौरैया अपने बच्चों को खिलाती है, अब उसे नहीं मिल पाते हैं।

रंजीत डैनियल के अनुसार, गौरैया धूल स्नान करती है। यह उसकी आदत है। वह शाम को सोने से पहले जमीन में तश्तरी के आकार का एक गड्ढा खोदकर उसमें धूल से नहाती है। इससे उसके पंख साफ रहते हैं और उनमें रहने वाले कीट परजीवी मर जाते हैं। पर अब हमारे कंक्रीट के शहरों-कस्बों में उसे धूल नहीं मिल पाती। मानवीय गतिविधियों और रहन-सहन में हुए बदलावों के चलते उसे शहरों में भोजन आसानी से नहीं मिल पाता, न वह आधुनिक किस्म के मकान में अपने घोंसले बना पाती है, क्योंकि उनमें घोंसले बनाने लायक सुरक्षित जगहें ही नहीं होतीं। शहरों में बने मकानों में भोजन ढूढ़ना उसके लिए बहुत मुश्किल होता है।

गौरतलब है कि गौरैया एक घरेलू चिड़िया है, जो सामान्यतः इंसानी रिहाइश के आसपास ही रहना पसंद करती है। भारतीय उपमहाद्वीप में इसकी हाउस स्पैरो, स्पेनिश स्पैरो, सिंध स्पैरो, डेड सी या अफगान स्क्रब स्पैरो, ट्री स्पैरो या यूरोशियन स्पैरो और रसेट या सिनेमन स्पैरो, ये छह प्रजातियां पाई जाती हैं। घरेलू गौरैया को छोड़कर अन्य सभी उष्ण-

कटिबंधीय और सम शीतोष्ण क्षेत्रों में पाई जाती हैं। असलियत यह है कि कम से कम आठ विविध वंशों, यानी जेनस के पक्षियों को गौरैया कहा जाता है। विडंबना यह है कि इन सभी प्रकार की गौरैया लगभग सभी जगह कम हो रही हैं। और इसके कारण भी लगभग सभी जगह एक जैसे ही हैं।

सबसे पहला कारण तो यह कि हमारा रहन-सहन ही नहीं बदला, बल्कि इसके साथ ही गौरैया के प्रति हमारा भावनात्मक जुड़ाव अब पहले जैसा नहीं रहा। नए-नए तरीकों के बहुमंजिला मकानों की वजह से उनकी छतों पर गौरैया को अपने घोंसले बनाने की जगह ही नहीं रही। किसी को यह स्वीकार्य भी नहीं कि उसके घर में किसी पक्षी का घोंसला बने। गेहूं या अन्य अनाज भिगोकर आंगन और छत पर सुखाने का चलन खत्म होने से भी गौरैया ने घरों से मुंह मोड़ लिया। घर में बच गए अनाज या अन्य भोजन जो पहले कभी पक्षियों के लिए आंगन या छत पर छोड़ दिए जाते थे, अब वे सीधे डस्टबिन में चले जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि बढ़ते मोबाइल टावरों के विकिरण से गौरैया के मस्तिष्क और उनकी प्रजनन क्षमता पर घातक असर पड़ा है। साथ ही वे इससे दिशा भ्रम की शिकार होती हैं।

जहां तक हमारे देश में इसकी तादाद का सवाल है, गौरैया से संबंधित कोई भी जानकारी सरकार के पास नहीं है। हालांकि यूरोप में चिड़ियों-पक्षियों की संख्या की जानकारी के लिए एक पूरा तंत्र मौजूद है, लेकिन दुख है कि गौरैया के बारे में यह तंत्र भी नाकाम साबित हुआ है। इसके बारे में जो भी बातें कही जाती हैं, वे आमतौर पर प्रामाणिक आंकड़ों के आधार पर नहीं, बल्कि अनुभवों के आधार पर कही जाती हैं। यदि बीते वर्षों में किए गए कुछ निजी आकलनों और अनुमानों पर गौर करें, तो धारणा यही बनती है कि गौरैया की तादाद में तकरीब 85 प्रतिशत कमी आई है।

‘हैल्प हाउस स्पैरो’ के नाम से समूचे विश्व में गौरैया को बचाने के लिए एक अभियान चल रहा है, लेकिन हमारे यहां इसकी सुध कोई नहीं लेता। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली का तो यह राजकीय पक्षी है। और शायद यहीं यह सबसे दुर्लभ पक्षी भी है। कम से कम यहां इसके दर्शन तो दुर्लभ हैं ही।



*Date:20-03-20*

## **Drastic, but necessary**

### ***On Supreme Court stripping Manipur Minister of his office***

#### **Editorial**

The Supreme Court's order stripping a Manipur Minister of his office and barring him from entering the State Assembly may appear drastic and unusual, but is quite a reasonable and necessary course of action. T. Shyamkumar was elected as a Congress candidate, but defected to the BJP to join the Biren Singh Cabinet. In a landmark judgment in January, which put an end to the deliberate inaction of Presiding Officers on petitions for disqualifying defectors, a Bench headed by Justice Rohinton F. Nariman had ruled that courts have the power to fix a time-frame for Speakers to dispose of petitions under the anti-

defection law. In the Manipur case, the court had given a reasonable period of four weeks — the defection complaint is pending since 2017 — but the Speaker failed to comply with it. On March 4, he had promised a decision within 10 days, but on March 18, he again sought time. It is in this background that the court invoked its extraordinary powers under Article 142 of the Constitution to take the sort of measures that would kick in if the defector concerned had been disqualified. The order is interim in nature, and the next hearing is on March 30. This means that the Speaker can still decide the matter, but a strong message has been sent out that courts will no more aid them in their attempts to protect defectors from the consequences of their floor-crossing.

The possible objections to the order keeping the Minister out are two-fold: that it goes beyond the court's power of judicial review, and that any intervention in a matter under the Tenth Schedule of the Constitution (the anti-defection law) can be made only after the Speaker's final decision. However, it ought to be borne in mind that it was out of respect for the Speaker's powers that the court refrained from deciding the matter itself, though there was ample evidence that the Speaker had failed to discharge his duty. His obvious reluctance to decide the matter even within an extended deadline necessitated the latest course of action. In any case, as pointed out in the January verdict, a 2007 precedent (Rajendra Singh Rana) is available to show that 'failure to exercise jurisdiction' is a stage at which the court can intervene. The order is a natural follow-on measure after the earlier decision opened a window for judicial intervention whenever Speakers refuse to act on legitimate complaints that some members had incurred disqualification. It is quite disappointing that the Manipur Speaker did not meet the court's deadline even after it was made clear that inaction is no more a legal option for him. This only underscores the importance of the other limb of the court's earlier judgment recommending that Parliament consider creating a new mechanism to replace the 'Speaker' as the adjudicating authority under the Tenth Schedule.

---

*Date:20-03-20*

## **Giving Human Rights Commissions more teeth**

*The Madras High Court is to decide on whether the recommendations made by such panels are binding upon the state*

**Gautam Bhatia , is a Delhi-based lawyer**

In 1993, the Indian Parliament enacted the Protection of Human Rights Act. The purpose of the Act was to establish an institutional framework that could effectively protect, promote and fulfil the fundamental rights guaranteed by the Indian Constitution. To this end, the Act created a National Human Rights Commission, and also, Human Rights Commissions at the levels of the various States.

The National and State Human Rights Commissions are examples of what we now call "fourth branch institutions." According to the classical account, democracy is sustained through a distribution of power between three "branches" — the legislature, the executive, and the judiciary, with each branch acting as a check and a balance upon the others. However, the complexity of governance and administration in the modern world has necessitated the existence of a set of independent bodies, which are charged with performing vital functions of oversight. Some of these bodies are constitutional bodies — established by

the Constitution itself. These include, for instance, the Election Commission and the Office of the Comptroller and Auditor General. Others have been established under law: for example, the Information Commission under the Right to Information Act, and Human Rights Commissions under the Protection of Human Rights Act.

In the two-and-a-half decades of their existence, however, the functioning of the Human Rights Commissions has come under scrutiny and criticism. There have been the usual critiques of the politicisation of autonomous bodies, and selectiveness. Even more than that, however, it has been alleged that for all intents and purposes, the Human Rights Commissions are toothless: at the highest, they play an advisory role, with the government left free to disobey or even disregard their findings.

### **Pending case**

In this context, a pending case before the High Court of Madras has assumed great significance. A Full Bench of the High Court will be deciding upon whether “recommendations” made by the Human Rights Commissions are binding upon their respective State (or Central) governments, or whether the government is entitled to reject or take no action upon them.

Under the Protection of Human Rights Act, the Human Rights Commissions are empowered to inquire into the violations of human rights committed by state authorities, either upon petitions presented to them, or upon their own initiative. While conducting these inquiries, the Commissions are granted identical powers to that of civil courts, such as the examining witnesses, ordering for documents, receiving evidence, and so on. These proceedings are deemed to be judicial proceedings, and they require that any person, who may be prejudicially affected by their outcome, has a right to be heard.

The controversy before the Madras High Court stems from the issue of what is to be done after the Human Rights Commission completes its enquiry, and reaches a conclusion that human rights have been violated. Section 18 of the Protection of Human Rights Act empowers the Human Rights Commission to “recommend” to the concerned government to grant compensation to the victim, to initiate prosecution against the erring state authorities, to grant interim relief, and to take various other steps. The key question revolves around the meaning of the word “recommend.”

The Full Bench of the Madras High Court is hearing the case because different, smaller benches, have come to opposite conclusions about how to understand the word “recommend” in the context of the Protection of Human Rights Act. According to one set of judgments, this word needs to be taken in its ordinary sense. To “recommend” means to “put forward” or to “suggest” something or someone as being suitable for some purpose. Ordinarily, a mere “suggestion” is not binding. Furthermore, Section 18 of the Human Rights Act also obligates the concerned government to “forward its comments on the report, including the action taken or proposed to be taken thereon, to the Commission”, within a period of one month. The argument, therefore, is that this is the only obligation upon the government. If indeed the Act intended to make the recommendations of the Commission binding upon the government, it would have said so: it would not simply have required the government to communicate what action it intended to take to the Commission (presumably, a category that includes “no action” as well).

While intuitively plausible, I suggest that this view needs to be rejected, for many reasons.

The first is that there is often a gap between the ordinary meanings of words, and the meanings that they have within legal frameworks. Legal meaning is a function of context, and often, the purpose of the

statute within which a word occurs has a strong influence on how it is to be understood. For example, the Supreme Court has held, in the past, that the overriding imperative of maintaining judicial independence mandates that “consultation” with the Chief Justice for judicial appointments (as set out under the Constitution) be read as “concurrence” of the Chief Justice (this is the basis for the collegium system). Recently, while interpreting the Land Acquisition Act, the apex court held that the word “and” in a provision had to be construed as “or”.

### **Constitutional commitment**

Of course, there needs to be good reason for interpretations of this kind. This brings us to the purpose of the Human Rights Act, and the importance of fourth branch institutions. As indicated above, the Human Rights Act exists to ensure the protection and promotion of human rights. To fulfil this purpose, the Act creates an institutional infrastructure, via the Human Rights Commissions. The Human Rights Commissions, thus, are bodies that stand between the individual and the state, and whose task is to ensure the adequate realisation of constitutional commitment to protecting human rights. It stands to reason that if the state was left free to obey or disobey the findings of the Commission, this constitutional role would be effectively pointless, as whatever the Human Rights Commission did, the final judgment call on whether or not to comply with its commitments under the Constitution would be left to the state authorities (effectively, the state judging itself). This, it is clear, would defeat the entire purpose of the Act.

Indeed, in the past, courts have invoked constitutional purpose to determine the powers of various fourth branch institutions in cases of ambiguity. For example, the Supreme Court laid down detailed guidelines to ensure the independence of the Central Bureau of Investigation; various judgments have endorsed and strengthened the powers of the Election Commission to compulsorily obtain relevant details of candidates, despite having no express power to do so. It is therefore clear that in determining the powers of autonomous bodies such as the Human Rights Commission, the role that fourth branch institutions are expected to play in the constitutional scheme is significant.

And lastly, as pointed out above, the Human Rights Commission has the powers of a civil court, and proceedings before it are deemed to be judicial proceedings. This provides strong reasons for its findings to be treated — at the very least — as quasi-judicial, and binding upon the state (unless challenged).

Indeed, very recently, the Supreme Court held as much in the context of “opinions” rendered by the Foreigners Tribunals, using very similar logic to say that these “opinions” were binding.

In sum, the crucial role played by a Human Rights Commission — and the requirement of state accountability in a democracy committed to a ‘culture of justification’ — strongly indicates that the Commission’s recommendations should be binding upon the state. Which way the Madras High Court holds will have a crucial impact upon the future of human rights protection in India.

---